शांकरवेदान्त में चैतन्य–तत्त्व की अवधारणा

Dr. Rishika Verma

Assistant Professor

Department of Philosophy

School of Humanities and Social Sciences

Hemvati Nandan Bahuguna Garhwal University

Srinagar (Garhwal) Uttarakhand, A Central University

E mail id: rishika.verma75@gmail.com

Mobile no. 9990469933

चेतन तत्व का अस्तित्व एक ऐसा तथ्य है जो सभी दार्शनिकों को स्वीकृत है। जड़तत्त्व ज्ञेय है, चेतन ज्ञाता है। ज्ञातृत्व के कारण ही चेतन के अस्तित्व का भान होता है। हममें से कोई भी अपने अस्तित्व की अस्वीकृति नहीं कर सकता। मूर्ख से लेकर विद्वान तक सभी 'मैं' 'मेरा' आदि शब्दों का व्यवहार करते है। वह तत्व जिसके लिए 'मैं' का प्रयोग होता है, 'क्या है?' तथा इसका स्वरूप क्या है? इस विषय में दार्शनिक विद्वान भिन्न–भिन्न मत रखते है किन्तु **'मैं हूँ'** इसमें किसी को सन्देह नहीं है। 'मैं खाता हूँ' 'मैं पीता हूँ', 'मैं सोचता हूँ' इत्यादि शतशः वाक्यों में हम अपने अस्तित्व को अभिव्यक्ति देते है।

प्रत्येक विचारशील मनुष्य के मस्तिष्क में यह जिज्ञासा जागती है कि 'मैं क्या हूँ'? भारतीय दर्शन में जहाँ इस जगत् की रचना की प्रक्रिया तथा इसके मूल तत्त्वों का अन्वेषण करने का प्रयास किया गया है, वहाँ इस ज्ञेय जगत् को जानने वाले **''ज्ञाता''** के अस्तित्व तथा उसे स्वरूप के सम्बंध में भी विचार किया गया है, क्योंकि अचेतन तथा चेतन, ये दो प्रकार के तत्त्व स्पष्टतः अनुभव में आते है। अचित् से चित् की विशिष्टता इससे द्योतित होती है कि यह सुख एवं दुःख का अनुभव करता है। सुख देने वाले पदार्थों की इच्छा करता है, दुःखद पदार्थों से द्वैष करता है। प्रतिकूलताओं से दूर हटने के लिए अनुकूल वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। इन सभी जिज्ञासाओं को शान्त करने के बाद वह अपने स्व के स्वरूप की खोज में निकलता है।

अद्वैतवेदान्त में सत् की खोज करने की दो पद्धतियाँ है। एक विषयनिष्ठ, दूसरी विषयीनिष्ठ, विषयनिष्ठ पद्धति के अनुसार समस्त कार्यरूप संसार के कारण तत्त्व की खोज की

जाती है। **'नेहनानास्तिकिंचन'[2], 'सर्वखल्विदं ब्रह्म**'[3] इत्यादि वाक्यों द्वारा सत् को जानने की विषयनिष्ठ पद्धति का आभास मिलता है। **''इदं सर्वं यदयमात्मा**' इत्यादि वाक्यों से विषयीनिष्ठ पद्धति का आभास मिलता है। इसी प्रकार वेदान्तसूत्रों एवं भाष्य द्वारा भी उक्त दो पद्धतियों का संकेत मिलता है। विषयनिष्ठ पद्धति में हमारे सामने विषयरूप में उपस्थित कार्यरूप नानात्व के कारण की खोज की जाती है और कारणात्मना सत् को जानने का प्रयास किया जाता है। '**जन्माद्यस्यतः**'[4] सूत्र से भी इसी विषयनिष्ठ पद्धति की ही पुष्टि होती है। पाश्चात्य दर्शन में इस विषयनिष्ठ पद्धति का दर्शन हमें प्लेटो,, आरिस्टोटल, स्पिनोजा, ब्रेडले आदि के दर्शनों में होता है। इन दर्शनों में विषयीनिष्ठ पद्धति का दर्शन हमें नहीं होता। देकार्त के दर्शन में दर्शन की विषयीनिष्ठ पद्धति का दर्शन होता है। देकार्त अपने दर्शन को आत्म–केन्द्रित मानते है। इसीलिए वह सर्वप्रथम संदेहपद्धति द्वारा आत्मा की सिद्धि करते है। आत्मा को वह निःसन्देह सत्य मानते है और उक्त आत्मा को केन्द्र बनाकर जीव–जगत् आदि की सिद्धि करते है। आत्मा विषयी है, इसीलिए आत्मनिष्ठ दर्शन–पद्धति को यहाँ विषयीनिष्ठ पद्धति कहा गया है।

अद्वैतवेदान्त में उक्त दोनों पद्धतियों का उपयोग सत् को जानने के लिए किया गया है। आचार्य शंकर आत्मा को स्वतःसिद्ध कहते है और यह कहते है कि कोई **'मैं नहीं हूँ'** इस प्रकार का अनुभव नहीं करता। अतः इस आत्मा के स्वरूप की खोज करनी चाहिये। यही आत्मा सत् है। इस प्रकार विषयीनिष्ठ पद्धति से सत्य तक पहुँचा जाता है। विषयीनिष्ठ पद्धति में उपनिषद्–वाक्यों के आधार पर नानात्व को विश्लेषणपूर्वक मिथ्या सिद्ध किया जाता है तथा एक सत् की खोज की जाती है। कार्यरूप जगत् के मिथ्या सिद्ध होने पर कारणरूप ब्रह्म ही एकमात्र सत् सिद्ध होता है। वही ब्रह्म आत्मा है। इस प्रकार विषयीनिष्ठ और विषयनिष्ठ दो भिन्न–भिन्न पद्धतियों से सत् का ज्ञान होता हैं। अद्वैतवेदान्त आत्मकेन्द्रित दर्शन है। इस शरीर में आत्मा को सुखदुःख के अनुभवकर्ता के रूप में अनुभव करता है। संसार में सांसारिक सुख की जो अनुभूति होती है, विवेकी पुरूष के अनुसार वह भी वस्तुतः दुःखानुभूति ही है।[5] संसार में सुख–दुःख मिश्रित है। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख, इस प्रकार परम्परा बनी रहती है। शास्त्रों में आत्मा को परमसुख स्वरूप कहा गया हैं। परन्तु संसार में परमसुख की अनुभूति हमें नहीं होती। ज्ञानी पुरूषों के अनुसार इसका कारण अज्ञान है। इसी अज्ञान से ग्रस्त होने के कारण आत्मा सांसारिक सुख–दुःखों का अनुभव करती है। इसीलिए अज्ञान को

अद्वैताचार्यो ने बंधन का कारण कहा है। बंधन से ही दुःखों की उत्पत्ति होती है। दुःखों से मुक्ति पाने के लिए बंधन से मुक्त होना पड़ेगा। बंधन से मुक्त होने के लिए अज्ञान या अविद्या को दूरीभूत करना होगा। अविद्या को दूरीभूत करने के लिए आत्मा के स्वरूप को जानना होगा। आत्मस्वरूपज्ञानार्थ ही सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रों का उपदेश है। इसीलिए वेदान्त दर्शन को आत्मकेन्द्रित कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। यद्यपि ब्रह्मसूत्र में **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'**[6] इस सूत्र में ब्रह्म के स्वरूप की जिज्ञासा का उल्लेख है, फिर भी आचार्य शंकर ने दार्शनिक जिज्ञासा आत्मा के स्वरूप की जिज्ञासा से ही प्रारम्भ की है। ऐसा इसीलिए किया गया, क्योंकि अद्वैतवेदान्त के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है। चूंकि आत्मा के विषय में सामान्य ज्ञान हमें होता है, अतः आत्मा के विशेष स्वरूप की जिज्ञासा की जा सकती है और आत्मस्वरूप को जानकर ब्रह्मस्वरूप को जाना जा सकता है। जब तक आत्मा और ब्रह्म का एकत्व बोध नहीं होता तब तक ब्रह्म का वैसा सामान्य ज्ञान भी नहीं होता जैसा कि आत्मा का होता है, अतः आचार्य शंकर ने आत्मा के स्वरूप विवेचन से ही दार्शनिक विश्लेषण आरम्भ किया है। इस विषय में आचार्य शंकर ने स्वयं युक्तियाँ प्रस्तुत की है कि आत्मा सामान्यतया तो प्रसिद्ध है किन्तु विशेष स्वरूप प्रसिद्ध नहीं है, अतः विशेष स्वरूप की खोज की जानी चाहिए।

शंकर ने अनेक युक्तियों के द्वारा देह से व्यतिरिक्त जीवात्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है। जीवात्मा का अस्तित्व देह के अस्तित्व पर निर्भर नहीं है। आत्मा की अस्तित्वसिद्धि के लिये अनुमान आदि प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है।[7] आत्मा अनुभव से ही स्वयंसिद्ध है। सुख–दुःख आदि का अनुभव हम सभी को होता है। किसी प्रकार की अनुभूति चैतन्य के बिना संभव नहीं है। यदि ज्ञेय तथा ज्ञाता दोनों ही जड़ हो तो ज्ञान का उद्भव कैसे होगा। चेतनतत्त्व के बिना समस्त जगत् अन्धे के तुल्य होगा। प्रमातृप्रमेयव्यवहार से ही आत्मा स्वयंसिद्ध है। आत्मा के बिना कोई अनुभव नहीं हो सकता। आत्मा का अस्तित्व होने के कारण ही आत्मा का निराकरण भी नहीं किया जा सकता। आत्मा कोई आगन्तुक वस्तु नहीं है, न ही आत्मा की सिद्धि के लिये किन्ही अन्य प्रमाणों की आवश्यकता है, क्योंकि स्वयं आत्मा अपने से भिन्न वस्तुओं को सिद्ध करने के लिए प्रमाणों का व्यवहार करता है। आत्मा तो प्रमाणादिव्यवहार का आश्रय है तथा प्रमाणादिव्यवहार से पहले से ही सिद्ध है। अपने स्वरूप का निराकरण नहीं किया जा सकता। किसी आगन्तुक वस्तु का ही निराकरण किया जाता है, जो निराकरण कर रहा है, वह तो स्वयं अपने स्वरूप का ही निराकरण कर रहा है, क्योंकि यह आत्मा तो

निराकरण करने वाले का ही स्वरूप है। अग्नि अपनी उष्णता का निराकरण किस प्रकार कर सकती है।[8] अतः आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है, यही आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में ब्रह्म है। **''अयमात्मा ब्रह्म''** इत्यादि वाक्यों द्वारा आत्मा एवं ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है।

शांकरवेदान्त के अनुसार चेतन तत्त्व ब्रह्म ही इस समस्त जगत् का मूल कारण है। ब्रह्म से ही इस सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति होती है तथा ब्रह्म में ही इसका लय हो जाता है। जगत् के जो भी हम अनेक रूप देखते है, उन सबका आदि कारण ब्रह्म है। सारे संसार को बनाने वाला, पालन करने वाला तथा संहार करने वाला ब्रह्म ही है।[9] इस जगत् में एक विशिष्ट व्यवस्था क्रम दिखलाई देता है। चेतन ज्ञानमय ब्रह्म ही इस व्यवस्था को संचालित करता है। ब्रह्म सत् चित् और आनन्दस्वरूप है। यह ब्रह्मतत्त्व ही आत्मा के रूप में हमारे शरीर में विद्यमान है। जाग्रत अवस्था में हम अनेक मायामय अनुभूतियों में विचरण करते रहते है। हमारा अह्म प्रत्येक अनुभूति के साथ यह अनुभव करता है कि मैं ऐसा कर रहा हूँ', मैं यह सुख–दुःख भोग रहा हूँ', परन्तु जब हम गहरी निद्रा में सुषुप्ति अवस्था में रहते है तो हमारी आत्मा का शरीर और बाह्य भौतिक जगत् से सम्बंध विच्छेद हो जाता है। इस अवस्था में आशिंक रूप से उस निर्मल आनन्द की स्थिति का आभास हम प्राप्त करते है, जो ब्रह्मानन्द की स्थिति है। परन्तु प्राणिमात्र अपने भिन्न–भिन्न रूपों में मायामात्र है। इन सबके अन्दर जो सत्, चित्, आनन्दतत्त्व व्याप्त है, वही सत्य ब्रह्मतत्त्व है। शांकरवेदान्त में ब्रह्म तथा जीव की अभिन्नता मानी गयी है।[10] अविद्या से उपहित ब्रह्म ही जीव है। अविद्या निवृत्ति होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार आचार्य शंकर के अनुसार मूलभूत चैतन्य तत्त्व एक ही है। समस्त विश्व उसी एक चेतना से व्याप्त है। उस निर्विकल्प, निरूपाधिक, निर्विकार, व्यापक चेतनसत्ता का नाम ब्रह्म है। ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, जिसका चैतन्य गुण नहीं वरन् स्वभाव है। ब्रह्म या चैतन्य अनन्त कहा जाता है। ब्रह्मत्तमत्वात् ब्रह्म या बृहणात् ब्रह्म[11] अर्थात् जो बृहत्तम है, वही ब्रह्म हैं। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म एक ऐसी सर्वव्यापी सत्ता है जो जगत् के कण–कण में व्याप्त है, जो निराकार, निर्विकार, अविनाशी, अनादि, चेतन्य तथा आनन्द स्वरूप है।

शांकरवेदान्त का मूल सिद्धान्त है– परमार्थ सत्तारूप ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्म जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन। यह मत आचार्य शंकर के ग्रन्थों में बड़ी सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किया गया है। शंकराचार्य ने ब्रह्मतत्त्व को सर्वोच्च एवं निर्गुण सत्य के रूप में

स्वीकार किया है। वस्तुतः शांकरवेदान्त का ब्रह्म परमार्थ सत्य स्वरूप है।[12] **''सर्वम् खलु इदं ब्रह्म''[13],''ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः, एकौ ब्रह्म द्वितीयो नास्ति, एकरूपेण ह्ययवस्थिता योऽर्थः स परमार्थः''[14]** आदि वाक्यों से शंकराचार्य के शुद्ध अद्वैत ब्रह्मतत्त्व की झलक मिलती है।

इस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार मूलभूत चैतन्य तत्त्व एकमात्र ब्रह्म ही है। जो निराकार, निर्विकार, निविशेष, निर्गुण, अविनाशी, सत्, अनादि, चैतन्य व आनन्दस्वरूप है। वह निरपेक्ष स्वतन्त्र शुद्ध, अतीन्द्रिय सत्ता है। वह अवांगमनसगोचर है, कार्यकारण से परे व देशकालिक सम्बंधों से परे है। वह अनुमान से सिद्ध नहीं होता, बल्कि शब्द प्रमाण द्वारा ही उसको जाना जा सकता है। उसके अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आत्मा के अस्तित्व से ही ब्रह्म का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। ब्रह्म के अस्तित्व का प्रमाण श्रुतियाँ है।

अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म के स्वरूप के कथन के विषय में उपनिषद् को सर्वोच्च प्रमाण मानते है। उपनिषद् उनके श्रुति प्रस्थान है, जिनके अनुसार वे अपरिभाषेय ब्रह्म के निष्प्रपंचात्मक एवं सप्रपंचात्मक दो स्वरूपों का विस्तृत विवेचन करती है। शंकर भी अपने भाष्यों में ब्रह्म के इन दो रूपों का निरूपण करते है। शंकर के अनुसार निरपेक्ष परमसत्ता (ब्रह्म) के दो रूप है– परब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म और अपर ब्रह्म या सगुण ब्रह्म।

परब्रह्म या निर्गुण ब्रह्मः– श्री शंकराचार्य विवकेचूड़ामणि में परब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए लिखते है कि ''परम ब्रह्म सत्, अद्वितीय, शुद्ध विज्ञानघन, निर्मल, शान्त आदि–अन्तरहित, अक्रिय और सदैव आनन्द स्वरूप है। वह समस्त मायिक भेदों से रहित हैं। नित्य, सुखस्वरूप, कालरहित, और प्रमाणादि का अविषय है तथा वह अरूप , अव्यक्त, अनाम और अक्षर तेज है जो स्वयं ही प्रकाशित हो रहा है। परमतत्त्व ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी से परे अनन्त, निर्विकल्प केवल औ अखण्ड चैतन्य मात्र है। वह त्याग और ग्रहण के अयोग्य, मन–वाणी का अविषय, अप्रमेय और परिपूर्ण है।[15] आचार्य शंकर के अनुसार निर्गुण ब्रह्म 'सत्'[16], 'परमार्थ सत्'[17], 'परमार्थ तत्त्व'[18], और भूमा[19] आदि भी कहलाता है। वह निष्कल, निष्क्रिय, शान्त और दोषरहित है।[20] वह अजर–अमर–अभय और अमृत है।[21] वह नित्य कूटस्थ[22], एकमेव[23], सर्वदा एकरूप[24], भेदरहित[25] और परिणामस्वरूप, परिवर्तनरहित[26] पूर्णतः अपने स्वरूप में स्थिर रहने वाला, हास–बुद्धिरहित होने के कारण अनश्वर, अदृश्य, अज्ञेय, अग्राह्य, गुणातीत, निर्विकार, न भला न बुरा और न छोटा ओर न बड़ा है।[27] उसमें देश और काल की परिकल्पना नहीं की

जा सकती, क्योंकि वह न यह और न वह है।[28] वह पाप–पुण्य से परे और कार्य–कारण से रहित है। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल उसके स्वरूप में प्रवेश नहीं पाते।[29] न वह काल में है और न काल उसमें। इसी प्रकार न स्थान उसमें है और न वह स्थान में। वह न बाहर है ओर न भीतर।[30] न वह कारण है और न कार्य। वह समस्त गुणों, विशेषों आकारों और उपाधियों से रहित है, वह निर्विशेष होने के कारण अवर्णनीय है। इसमें न कोई अवयव है और न कोई विशेषताएँ। वह असंग और असंसर्गी है। तथा वह सब उपाधि भेंदों से रहित है।

अपर ब्रह्म या सगुण ब्रह्मः– विशुद्ध या निरतिशय उपाधियों के संयोग से परब्रह्म, अपरब्रह्म हो जाता है। जब शास्त्र ब्रह्म में उपाधियों, गुणों, आकारों या विशेषों का आरोप करता है तब वहाँ ब्रह्म का अर्थ अपरब्रह्म करना चाहिए। आचार्य शंकर के दर्शन में अपर ब्रह्म औपाधिक होने के कारण परमसत्य तो नहीं है तथापि अपर ब्रह्म सम्प्रत्यय की तकीर्य एवं दार्शनिक आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता है। पर ब्रह्म जो कि अव्यक्त है, उससे व्यक्त जगतादि की व्याख्या संभव न हो सकने के कारण अपर ब्रह्म की अवश्यकता पड़ती है। पुनः अपर ब्रह्म के सम्प्रत्यय का व्यवहारिक महत्व भी है। मन शुद्धि आदि के लिए सगुणोपासना अत्यन्त सहायक होती है। सगुणोपासना भेद से अभेद की ओर अग्रसर होने में साधक की सहायता होती है। शंकराचार्य ने अध्यात्म की यात्रा में सगुण ब्रह्म की उपासना के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, किन्तु अद्वैतवाद में ब्रह्म को मूलतः निर्गुण ओर निर्विशेष ही माना गया है। ईश्वर भक्ति का विषय है, किन्तु निरपेक्ष ब्रह्म ऐसा नहीं है।[31] सगुण ब्रह्म (ईश्वर) के भक्त और साधक ईश्वर को ही प्राप्त होते है, किन्तु ब्रह्म को प्राप्त होने की बात बुद्धिगम्य नहीं है।[32] आचार्य शंकर के शब्दों में सगुण ब्रह्म (ईश्वर) समग्र संसार का स्वामी ओर कर्मफलदाता है वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और समग्र संसार का उद्भव, पालन और प्रलयकर्ता है।[33] उसका ज्ञान सब बाधाओं और सीमाओं से मुक्त है। उसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी इन्द्रिय या कार्य करने के लिए किसी शरीर की आवश्यकता नहीं है।[34] वह स्वभावतः नित्य ज्ञानस्वरूप है। जैसे सूर्य स्वभावतः प्रकाश स्वरूप हैं। ईश्वर अपने स्वरूप का नाश किये बिना ही सृष्टि की उत्पत्ति करता है। इसीलिए इसे अक्षर कहा गया है।[35] द्युलोक और पृथ्वीलोक इस अक्षर के प्रशासन से नियमित होकर विद्यमान है। ब्रह्म (ईश्वर) अन्तर्यामी होकर समस्त पृथिव्यादि लोकों का अन्तर्यमन करता है इसीलिए वह अन्तर्यामी है।[36] समग्र संसार का मूलस्त्रोत स्वयं होने के कारण ईश्वर में

सर्वज्ञता, नित्यता, सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वात्मभाव तथा ऐसे ही अन्य गुण भी उसमें स्वीकार किये गये है।[37]

इस प्रकार शंकर परब्रह्म को ही परमसत् मानते हैं अपरब्रह्म माया, अविद्या, अज्ञान की कृति है। शंकर के अनुसार अपरब्रह्म का वास्तविक स्वरूप या मूलतत्व परब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वस्तुतः अपर या सगुण ब्रह्म के सम्प्रत्यय की उतनी ही आवश्यकता है जितनी निर्गुण या परब्रह्म की। क्योंकि सगुण ब्रह्म की कल्पना के बिना जगत् की व्याख्या नहीं हो सकती। न ही मुक्ति की अवधारणा संभव है। इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र परब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हुए व्यवहारिक दृष्टि से शंकराचार्य ने अपरब्रह्म की भी सत्ता स्वीकार की है।

इस दृष्टिकोण से आचार्य शंकर के अनुसार निर्विकल्प, निर्विशेष, निर्गुण, ज्ञानस्वरूप तत्त्व ही शुद्ध चैतन्य या ब्रह्म है जो अपनी अविद्या शक्ति के कारण अपर, सविशेष और सगुण बन जाता है। यही ईश्वर, विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, लय का कारण है। जीवात्मा विषयी और विषय की ग्रन्थि, ब्रह्म और अविद्या का मिश्रण है। जीव का, चैतन्य ब्रह्म का तथा जीवत्व अविद्या का है। जीव के समान ईश्वर भी ब्रह्म और अविद्या का मिश्रण है, किन्तु अन्तर यह है कि जीव अविद्या के वश में है तथा अविद्या ईश्वर के वश में है। साक्षी जो कि शुद्ध द्रष्टा है वह भी अ़विद्या द्वारा आलिंगित रहता है क्योंकि अन्तःकरण के कारण अविद्या का नाश नहीं होता। मोक्ष में विद्या द्वारा अविद्या नष्ट हो जाती है ओर केवल साक्षिचैतन्य जो स्वयं आत्मतत्त्व या ब्रह्मस्वरूप है अपनी नित्य ज्योति में भासित रहता है। इस प्रकार शांकरवेदान्त में चैतन्य तत्त्व ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, साक्षी एवं जीव इत्यादि रूपों में भासित होता है। जिनका संक्षिप्त वर्णन निम्नवत् है।

(आत्मा) जीवात्माः— यद्यपि शांकरवेदान्त में एकमात्र सच्चिदानन्द स्वरूप निष्प्रपंच ब्रह्म की सत्ता स्वीकार की गयी है, किन्तु द्वैताश्रित सृष्टि की मायिक व्याख्या के प्रस्तुतीकरण के सन्दर्भ में तथा उपास्य—उपासक भाव की अभिव्यंजना के लिए ईश्वर तथा जीव की सत्ता स्वीकार की गई है। चूँकि वेदान्त का लक्ष्य मानवीय आत्मा के विश्लेषण से एकमात्र निरपेक्ष पर ब्रह्म की यथार्थता की ओर ले जाना है। अतः आचार्य शंकर जीव में कोई तात्विक, पारमार्थिक भेद उपस्थित नहीं करते।

जीव चेतन शरीर का स्वामी और प्राणों को धारण करने वाली है। अद्वैतवेदान्त में पारमार्थिक दृष्टि से जीव (आत्मा) एवं ब्रह्म में अभेद है, लेकिन व्यवहारिक रूप में भेद किया गया है। आचार्य शंकर अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में लिखते है कि 'जिस प्रकार सूर्य विभिन्न जलपूर्ण पात्रों में प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार शुद्ध–चैतन्य स्वरूप ब्रह्म अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर जीव भावापन्न होता है। निरपेक्ष चेतन्य को ही एकमात्र सत् मानने वाले आचार्य शंकर समस्त नामरूप को अविद्या कल्पित कहकर मिथ्या स्वीकारते है। इस दृष्टि से जीव भी परमार्थतः मिथ्या सिद्ध होता है, किन्तु व्यवहारतः वह एक यथार्थ है, जो ब्रह्म एवं अविद्या का मिश्रण है। जीव का चेतन्य ब्रह्म का है तथा जीवत्व अविद्या का। जीव का दृष्टव्य एवं विषयित्व साक्षी चैतन्य रूप ब्रह्म का है तथा जीव का विषयत्व अविद्याजन्य अन्तःकरण के कारण है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकर कहते है कि शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल का भोक्ता आत्मा ही जीव है।[38] शंकर कहते है कि यद्यपि जीव एक है तथापि उपाधियों के कारण अनेक होता है। जीव ही प्रमाता, भोक्ता और कर्ता है। यह पाप–पुण्य अर्जित करता है और उसका फल भोक्ता है। यही आवागमन एवं संसरण करता है। यही बंध एवं मोक्ष का अधिकारी है। यद्यपि चिदानन्द आत्मा होने के कारण यह अमर्त्य है फिर भी कामनाओं के पूर्व कर्मों को करने से उसका फल भोगने के लिए इसके द्वारा अन्य शरीर ग्रहण करना मरण समझा जाता है। यह आत्मा पुण्य कर्मों से पवित्र तथा पाप से कुलषित होता है पुनः शंकर कहते है कि यह कर्मानुसार फल प्राप्त करता हैं।[39] आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा कभी भी ज्ञान से रहित नहीं होती। वेदान्त में चैतन्य (जीव) की चार अवस्थाओं का वर्णन मिलता हैः–

1. ***जाग्रतावस्था***:– इस अवस्था में हम व्यवहारिक जगत् का ज्ञान प्राप्त करते है। इसमें अन्तःकरण बाह्य इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकल कर बाह्य वस्तुओं का स्वरूप धारण कर लेता है जिसे वृत्ति कहते है। इस वृत्ति के द्वारा ही जीवात्मा बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करती है। जाग्रतावस्था में हमारा स्थूल शरीर कार्य करता है। जाग्रतावस्था में स्थूल शरीर का अभिमानी जीव **''विश्व''** कहलाता है, जो घट–पटादि बहिर्विषयक ज्ञान सम्पन्न होता हैं। इस अवस्था में आत्मा अन्नमयकोश में आबद्ध रहता है। सुरेश्वराचार्य के अनुसार जाग्रतावस्था ऐसी अवस्था है, यहाँ केवल अज्ञान एवं अन्तःकरण ही नहीं, अपितु समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी स्वाधिष्ठित देवताओं के अनुग्रह से अपना

विषय ग्रहण करती हैं तथा स्थूल देह सर्वथा सचेष्ट रहता है। संक्षेपतः जागरितावस्था में अपरोक्ष तथा परोक्ष ज्ञान, अपने में पूर्ण है, क्योंकि यहाँ प्रमा, प्रमाण तथा प्रमेयफल तीनों का विविक्त एवं स्पष्ट ज्ञान होता है।

2. ***स्वप्नावस्थाः –*** जाग्रत अवस्था की तरह स्वप्नावस्था में भी हमें वर्तमान वस्तुओं का ज्ञान होता है। स्वप्न केवल **''पुनरूज्जीवित संस्कार''** मात्र नहीं है, वह एक नवीन सृष्टि है जिसमें हमें प्रातिभासिक सत्ताओं का ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ अन्तःकरण बाह्य इन्द्रियों की सहायता लिए बिना ही स्वयं कार्य करता है। यहाँ हमारा स्थूल शरीर कार्य नहीं करता। केवल सूक्ष्म शरीर ही कार्य करता है। स्वप्नावस्था में जीव सूक्ष्म विषयों का भोग करता है तथा प्राणमय, मनोमय, तथा विज्ञानमय कोशों से आबद्ध रहता है। आचार्य शंकर ने बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में स्वप्नावस्था को जाग्रतावस्था से विलक्षण एवं स्वयं ज्योतिस्वरूप बताते हुए प्रतिपादित किया है कि इस अवस्था में आत्मा स्वयं ही विशुद्ध ज्योति स्वरूप होता है, तात्पर्यतः बाह्य आध्यात्मिक भूत एवं भौतिक संसर्ग से रहित होता है।[40] स्वप्नावस्था की विलक्षणता को स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर प्रतिपादित करते हैं कि जागरित अवस्था में आत्मज्योति, इन्द्रिय, बुद्धि, मन और आलोकादि व्यापार से युक्त, किन्तु स्वप्न में तो इन्द्रियों के अभाव तथा उसके उपकारक आदित्यादि के प्रकाश के अभाव के कारण वह विशुद्ध अर्थात् केवल रहती है, एतदर्थ वह विलक्षण है।

4. **सुषुप्तावस्थाः–** जाग्रत तथा स्वप्नावस्था के स्थूलात्मक एवं वासनात्मक भोगों के भोगने के कारण शान्त प्राणिजगत् का चिदाभास विशिष्ट अविद्या में विश्रामार्थ अवस्थान सुषप्ति है, यहाँ न तो स्थूल देह की चेष्टाएँ रहती हैं, न मन का वासनात्मक स्मरण रहता हैं, और न विशेष विज्ञानजनक प्रमातृ–प्रमाण–प्रमेय विभाग की अभिव्यक्ति ही रहती है। इस सुषुप्तिकाल में जाग्रत तथा स्वप्नावस्था के विभक्त तथा वर्तमान साभासान्तःकरण अर्थात् विशेष दर्शन के कारणभूत प्रमाता, चक्षुरादि प्रमाण, रूपादि प्रमेय सभी अविद्या प्रतिपन्न रहते है और कारणमात्रतया अवस्थित होने के कारण अभिव्यक्त नहीं होते है।[41] सुषुप्तावस्था में जीवात्मा आनन्दमय कोशाबद्ध होता है। आचार्य शंकर ने इस अवस्था को सम्प्रसाद अवस्था कहते हुए प्रतिपादित किया है कि वह जाग्रतावस्था में देह, इन्द्रियादि के सैकड़ों व्यापारों के सम्बन्धों से उद्भूत क्लेश को

त्यागकर इन देह, इन्द्रियादि से मुक्त हो जाने के कारण स्वप्नावस्था में थोड़ा, किन्तु सुषुप्तावस्था में पूर्णतया प्रसन्नता की अवस्था है। इस अवस्था में आत्मज्योति स्वभाव दृष्टि का लोप न होने के कारण वह द्रष्टा तथा अन्य द्रष्टव्य का अभाव होने के कारण अद्वैत है। सुषुप्तावस्था का स्वाभिमानी **''प्राज्ञ''** है।[42]

4. तुरीयावस्थाः— चैतन्य की यह चतुर्थ अवस्था है जिसे मोक्ष की अवस्था कह सकते है। इसमें प्रत्येक प्रकार के शरीर का अभाव पाया जाता है। यहाँ अविद्या न आवरण रूप में और न विक्षेप रूप में ही कार्य करती है। किसी भी प्रकार के अज्ञान के अभाव के कारण यह पूर्ण मोक्ष या आनन्द की अवस्था है। यद्यपि पूर्वोक्त तीनों अवस्थाएं तुरीय चेतन की ही जीवभावापन्न अवस्थाएँ हैं तथापि तुरीय चेतन उन अवस्थाओं से अप्रभावित और सबका अधिष्ठान है। माण्डुक्योपनिषद्भाष्य में आचार्य शंकर ने कहा है कि तुरीयावस्था की प्राप्ति अन्य तीनों अवस्थाओं से ऊपर है। विवेकपूर्वक जब अन्वयव्यतिरेक से जाग्रतादि अवस्थाओं का बाध कर दिया जाता है, तब एक मात्र पंचकोशातीत, ब्रह्माभिन्न तुरीय चेतन ही अवशिष्ट रहता है। यह तुरीय चेतन शिवस्वरूप, प्रपंचोपशम् शान्त, अद्वैत है।

साक्षीः— साक्षी शब्द का अर्थ है द्रष्टा या देखने वाला। वह सभी वस्तुओं एवं अनुभवों का दृष्टा है, किन्तु उसे देखने वाला कोई नहीं है। वह समस्त ज्ञान का ऐसा सतत् द्रष्टा है जिसे वस्तुगत रूप में कभी जाना नहीं जा सकता। वह स्वयं प्रकाशित है अर्थात् अपनी चेतना से ही अपने को जानता है। शांकरवेदान्त में साक्षी चैतन्य की वह अवस्था मानी गयी है जो जीव और ईश्वर के मध्य स्थित है तथा एक ओर विशुद्ध चैतन्य के समान निष्क्रिय एवं असंग है दूसरी ओर वह प्रतिमुहूर्त जीव की सहवर्तिनी बन उसके प्रत्येक कार्य संकल्प से क्रिया—पर्यन्त को अनवरत देखती रहती है। इस प्रकार वह ईश्वरतत्व का ही एक विशेष रूप है, जिसमें रहता हुआ ईश्वर जीव के सब कर्मों का दृष्टा है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा भाष्य में सर्वप्रथम साक्षी का स्वरूप वर्णित है। तदनुसार समस्त प्राणियों में छिपा हुआ एक (सर्वसाधारण एवं अद्वितीय) प्रकाशस्वरूप सर्वव्यापी, सभी जीवों का अन्तरात्मा समस्त प्राणियों द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कर्मों का अध्यक्ष, अधिष्ठाता (कोई कार्य होते समय उसमें व्यावृत्त हुए बिना पृथक रहकर ही उसे देखने वाला) सभी भूतों (प्राणियें

या जीवों) के सहित या उनमें या उनके समानाधिकरण होकर रहने वाला आत्मस्वरूप साक्षी है।[43] शारीरक भाष्य में प्रत्यगात्मा को अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों का साक्षी कहा गया है। पाप और पुण्य तथा बंधन और मुक्ति का संबंध जीव से है, साक्षी से नहीं। साक्षी अन्तःकरण की उपाधि से युक्त शुद्ध चेतना का अप्रभावित तत्व होने के कारण वस्तुतः सदैव मुक्त है।

साक्षी के स्वरूप के बारे में आचार्य शंकर ने प्रतिपादित किया है कि– समस्त प्राणियों में छिपा हुआ एक प्रकाश स्वरूप सर्वव्यापी, सभी जीवों का अन्तरात्मा, समस्त प्राणियों द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कर्मों का अध्यक्ष, अधिष्ठाता, सभी भूतों सहित या उनके सामानाधिकरण होकर रहने वाला तत्व साक्षी है।[44] तात्पर्यतः शाश्वत् चैतन्य को साक्षी कहा गया है। अन्तःकरण इसके नियामक के रूप में कार्य करता है और उक्त सहायक के द्वारा यह प्रमेय विषयों को प्रकाशित करता है। शारीरकभाष्य में प्रत्येक आत्मा को अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों का साक्षी कहा गया है। साक्षी का अर्थ द्रष्टा मात्र है, यही कारण है कि यह बोध करते हुए भी उदासीन है। किन्तु साक्षी न तो जीव कोटि में है नही ईश्वर कोटि में। विशुद्ध चैतन्य ही जीव के साथ अभिन्न रूप से स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरों का अधिष्ठान बनकर साक्षी कहलाता है।

ईष्वरः– अद्वैतवेदान्त के आधारभूत ग्रन्थ उपनिषदों का कहना है कि ''दृश्यमान जगत् में जो कुछ भी दृश्य है, वह सब ईश्वर द्वारा आच्छान्दित तथा व्याप्त है।'' वह भूत, वर्तमान एवं भविष्य सभी का नियन्ता एवं सभी कुछ का अधिपति है। आचार्य शंकर के उपनिषद् भाष्यों के अनुसार समस्त प्राणियों को उनके कर्मानुरूप फल देने वाला, लोकत्रय का स्वामी, सबका शासक, प्रधान तथा पुरूष का नियमन करने वाला आत्मा ही ईश्वर है। वह मायावी है, मायोपाधिक होकर अपनी शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों का शासन करता है।[45] शंकर ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, समग्र संसार का उद्भवकर्ता पालक एवं प्रलयकर्ता भी मानते है।[46] उसकी नित्य प्रतिष्ठा है। उसका ज्ञान सब बाधाओं एवं सीमाओं से मुक्त है, उसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी इन्द्रिय या कार्य करने के लिए किसी शरीर की आवश्यकता नहीं हैं। वह स्वभावतः नित्य ज्ञानस्वरूप हैं। सब परिणामों का कारण होने में ही उसकी सर्वशक्तिमत्ता निहित है। वह सत्य संकल्प है, क्योंकि समग्र संसार के उद्भव पालन एवं प्रलय की निर्विरोध शक्ति उसे प्राप्त है। वह सम्पूर्ण लोगों की रचना करने में कुम्हार की तरह है, मृत्पिण्ड रूप से अपने आपको उपादान कारण नहीं बनाता, केवल अपनी शक्ति को क्षुब्ध करने मात्र से जगत् का रचयिता एवं नियन्ता कहलाता है।

इस प्रकार व्यवहारिक दृष्टिकोण से साक्षी, जीव, ईश्वर एवं ब्रह्म से अपना पार्थक्य निर्धारित करते हुए भी तत्वतः वही विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है जो ब्रह्म की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। अतः कहा जा सकता है कि आचार्य शकर मूलभूत चैतन्य तत्त्व को एक मानते है और समस्त विश्व उसी एक चैतन्य से व्याप्त है। शंकर का मूल चैतन्य वास्तविक सत्, अपरिवर्तनीय, स्वयं अस्तित्ववान, स्वस्वरूप एवं स्वाव्याख्येय सत् है। वही शुद्ध सत्ता नानारूपों में प्रकट होने पर भी निराकार है, सान्त विषयों में भासमान होने पर भी अनन्त है, भिन्न–भिन्न भागों में होने पर भी यथार्थतः निरवयव है। इसी निर्विशेष सत्ता को ही शंकर ब्रह्म कहते है। पुनः आचार्य शंकर ब्रह्म का विचार दो दृष्टियों से करते है। वे दो दृष्टियाँ है– पारमार्थिक एवं व्यवहारिक। व्यवहारिक दृष्टिकोण द्वारा ब्रह्म का जो वर्णन किया जाता है, उसे ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहते है। इस तटस्थ लक्षण के अनुसार ब्रह्म में गुणों का आरोप किया जाता है और इस दशा में ब्रह्म को संसार का स्रष्टा, पालक, संहारक आदि बताया जाता है। इस रूप में उसे सगुण, सविशेष, अपरब्रह्म कहते है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टिकोण से ब्रह्म के स्वरूप की जो व्यंजना प्रस्तुत की जाती है, उसे ब्रह्म का स्वरूप लक्षण कहते है। ब्रह्म स्वरूप की दृष्टि से निराकार है, उसमें कोई विकार या गुण नहीं है। वह अविकारी एवं अपरिवर्त्य है। यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है।

आचार्य शंकर ने अपने मूल दर्शन को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए तीन घोषणायें की थी, उनमें से पहली थी **'ब्रह्म सत्यम्',** दूसरी थी **'जगन्मिथ्या'** तीसरी थी '**जीवो ब्रह्मैव नापरः'** सत्य स्वरूप ब्रह्म और ब्रह्म स्वरूप जीव दोनों के बीच में मिथ्यात्व का या अध्यास का एक कल्पित विक्षेप तथा आवरण है। चैतन्य जो इस अध्यासमयी अविद्या में प्रतिबिम्बित हो रहा है, जीव है। अविद्या के संसर्ग से उपाधिग्रस्त चेतन जीव की स्वस्वरूप विस्मृति के कारण ही संकल्प–विकल्पमय संसार उसी से निकलकर उसे घेर लेता है और जाग्रत से लेकर मोक्ष पर्यन्त जीव की समस्त धारणायें ही उसकी संसार रूप रचना है, जिसमें वह उलझा हुआ है। इस प्रकार हम देखते है कि कल्पनाओं के बीच आप ही खोया हुआ, जो चैतन्य है, वही जीव है। जीव ब्रह्म एवं अविद्या का मिश्रण है। जीव का चैतन्य ब्रह्म का है तथा जीवत्व अविद्या का है। आचार्य शंकर के अनुसार यद्यपि जीव एक है तथापि उपाधियों के कारण अनेक हो जाता है। जीव ही प्रमाता, कर्ता एवं भोक्ता है। यही पाप–पुण्य अर्जित करता है तथा उसका फल भोगता है। यही आवागमन एवं संसरण करता है, किन्तु जीव का यह जीवत्व तथा स्थिति

व्यवहारिक ही है। पारमार्थिक स्तर पर समस्त भेद प्रपंच मिथ्या है तथा जीव का वास्तविक रूप आत्मा ही रह जाता है।

व्यवहारिक स्तर पर इस भोक्ता चैतन्य के साथ ही हमारे अन्दर साक्षी–चैतन्य भी है। यह साक्षी–चैतन्य जो कि प्रत्येक स्थिति में अनुभवी के प्रत्येक अनुभव को निरपेक्ष रूप से जानता है तथा वह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों दशाओं में जीवात्मा के अनुभव तथा अनुभवहीनता की हर स्थिति को जानता है, किन्तु साक्षी चेतन्य का हर ज्ञान अनासक्तिपूर्ण होता है।

इस प्रकार आचार्य शंकर के दर्शन में चैतन्य की चार अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं। अतः यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि इन चारों अवस्थाओं में किस प्रकार ऐक्य स्थापित किया जा सकता है तथा प्रतीयमान वैविध्य को मिथ्या कहा जा सकता है? इतनी विविधताओं के होने पर भी क्यों ओर कैसे आचार्य शंकर का मूल चैतन्य अद्वय तथा उनका दर्शन अद्वैती दर्शन कहा जाता हैं।

इन्हीं समस्याओं के समाधानार्थ आचार्य शंकर ने समस्त सत्ताओं का पारमार्थिक, व्यवहारिक एवं प्रातिभासिक इन तीन वर्गणाओं में विभाजित किया है। परमार्थतः एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है तथा जगत्, प्रपंच एवं नानात्व मिथ्या है। ईश्वर, जीव, साक्षी आदि की सत्ताऐं मात्र व्यवहारिक है। परमार्थतः इनका ब्रह्म में ही समाहार हो जाता हैं। इस प्रकार आचार्य शंकर के दर्शन में एकमात्र तत्त्व ब्रह्म ही है, जो चैतन्य स्वरूप है। वह मायोपाधिक होकर नानारूपों में प्रतीत होता हैं। यह समस्त व्यवहारिक जगत् विवर्तमात्र है, आभास है। अज्ञानस्वरूपा अविद्या के आवरण का विरिलोप होते ही नानात्व एवं वैविध्य के मिथ्यात्व का निगमन हो जाता है और एकमात्र मूल अद्वैत तत्त्व की निष्पत्ति होती है, जिसे आचार्य शंकर ब्रह्म कहते है।

इस प्रकार हम देखते है कि शांकरवेदान्त में चैतन्य वैविध्य की प्रतीति मात्र ही होती है। यह वैविध्य मात्र व्यवहारिक ही है। चैतन्य एकरूप है अतः उसका भेद किसी प्रकार उचित नहीं हो सकता।[47] परमार्थतः मूलभूत चैतन्य तत्त्व एक ही है। चैतन्य उसे कहते है, जिसमें वैविध्य आ ही नहीं सकता। समस्त वैविध्य विवर्तमात्र है। प्रतीयमान विविधता के होने पर भी एकत्व में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता है। समस्त विभिन्नताओं के बाद भी जो अपरिवर्तनीय चेतन्यत्व है, वही आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म है तथा यही शंकर का अद्वैतवाद है।

सन्दर्भः—

1. बृहदारण्यक उपनिषद्,4 / 4 / 19 ।।
2. छान्दोग्य उपनिषद्,3 / 14 / 1 ।।
3. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1 / 1 / 2 ।।
4. दुःखमेवसर्व विवेकिनः। योगदर्शन, 2 / 15 ।।
5. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1 / 1 / 1 ।।
6. पाल डायसन, वेदान्तदर्शन,पृष्ठ 272।
7. आत्मत्वाच्चात्मनो निराकरणशंकानुपपत्तिः। न ह्यात्मागन्तुकः कस्यचित्, स्वयंसिद्धित्वात्। न ह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिद्धयति। आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्धयति। न चेदृशस्यनिरकरणं सम्भवति। आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता तदेव यस्य स्वरूपम्। न ह्यग्रेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2 / 3 / 7 ।।
8. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1 / 1 / 2 ।।
9. ब्रह्मैव जीवः स्वयम्। विवेकचेड़ामणि, 395
10. तैत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्य, पृष्ठ 98
11. तैत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्य, 2 / 6 ।।
12. छान्दोग्य उपनिषद्, 3 / 14 / 1 ।।
13. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2 / 1 / 11 ।।
14. विवेकचूड़ामणि, 239–242
15. सद्रूपेण ब्रह्मणा। भगवद्गीता शांकरभाष्य, 2 / 17 ।।
16. परमार्थ सत्यं ब्रह्म। तेत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्य, 2 / 6 ।।
17. परमार्थ तत्त्व ब्रह्म। भगवद्गीता शांकरभाष्य, 2 / 59।
18. छान्दोग्योपनिषद् शांकरभाष्य,7 / 14 ।1 ।।
19. श्वेताश्वतर उपनिषद् शांकरभाष्य,6 / 19 ।।
20. बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य,4 / 4 / 25 ।।
21. कूटस्थ नित्य.....। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1 / 3 / 19 ।।
22. एकमेव हि.....। छान्दोग्योपनिषद् शांकरभाष्य,6 / 2 / 1 ।।
23. सर्वदैकरूपं। ईशावाश्योपनिषद् शांकरभाष्य,4 ।।
24. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 4 / 3 / 14 ।।
25. भगवद्गीता शांकरभाष्य, 2 / 30, 2 / 17 ।।
26. बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य,3 / 8 / 8 ।।
27. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 4 / 3 / 14 ।।
28. कठोपनिषद् शांकरभाष्य, 1 / 2 / 14 ।।
29. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 3 / 2 / 16 ।।

30. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1/2/14।।

31. बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य,4/4/6।। एवं ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 4/3/14।।

32. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1/1/5।।

33. श्वेताश्वतर उपनिषद् शांकरभाष्य, 3/19।।

34. बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य,3/8/9।।

35. बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य,3/7/3।।

36. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1/2/1।।

37. अस्त्यात्मा जीवख्यः शरीरेन्द्रिय पंजराराध्यक्षः कर्मफल सम्बंधी। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 2/3/17।।

38. बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य,4/4/5,6।।

39. अत्यन्त ज्योतिरात्मा स्वप्नेभवतीत्यभिप्रायः। बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य,2/3/14।।

40. बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य,4/3/23।।

41. बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य,4/3/32।।

42. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 6/11।

43. विवेकचूड़ामणि, 212।।

44. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 3/1।

45. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1/1/5।।

46. चैतन्यस्यैकरूपत्वाद्भेदो युक्तो न कर्हिचित्। अपरोक्षानुभूति, आचार्य शंकरकृत,43।।